

# ॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

## संयमशीलता-कर्तव्यपरायणता प्रकरण

चतुर्थो दिवसस्त्वद्य सत्रस्याभूच्छुभोदयः ।  
मनीषिणां समेषां हि संगतानामवर्द्धत ॥ १ ॥  
जिज्ञासूनां स उत्साहो धर्मस्यास्य विशालताम् ।  
महत्त्वं चान्वभूवँस्ते जगन्मंगलमुत्तमम् ॥ २ ॥  
ज्ञानगोष्ठी समारब्धा विधिवद्विद्वदुत्तमः ।  
विद्वथः प्रणमन्नेवाध्यक्षं पप्रच्छ सादरम् ॥ ३ ॥

टीका—आज सत्र का चौथा दिन था। उपस्थित मनीषियों एवं जिज्ञासुओं का उत्साह बढ़ रहा था। उन्हें धर्म की महानता और विशालता का और भी अच्छी तरह अनुभव होने लगा था। आज की ज्ञानगोष्ठी विधिवत आरंभ हुई, तो विद्वान विद्वथ ने अध्यक्ष का अभिवादन करते हुए आदर सहित पूछा ॥ १-३ ॥

विद्वथ उवाच

धर्मस्यापरयुग्मस्य भगवन् प्रविवेचनम् ।  
क्रियतां कश्च संबंधः कर्तव्ये संयमेऽस्ति च ॥ ४ ॥  
उभौ कथं सुसंबद्धौ मतौ तौ हि परस्परम् ।

उदतारीन्महाप्राज्ञ एवं स आश्वलायनः ॥ ५ ॥

टीका—विद्वथ बोले, हे भगवन् धर्म के दूसरे युग्म की विवेचना करें। संयम और कर्तव्य का आपस में क्या संबंध है? दोनों एक दूसरे के साथ जुड़े हुए या गुँथे हुए क्यों माने गए हैं? महाप्राज्ञ आश्वलायन ने उत्तर देते हुए इस प्रकार कहा ॥ ४-५ ॥

आश्वलायन उवाच

सत्राध्यक्षः अबोधयत् समुदायमुपस्थितम् ।  
सज्जनाः! भगवान् प्रादात् प्रत्येकस्मै नराय तु ॥ ६ ॥  
विभूतिर्विपुलायाश्च सुप्तास्तिष्ठन्ति नित्यशः ।

स्थूलेऽस्मिंश्च तथा सूक्ष्मे शरीरे बीजरूपतः ॥ ७ ॥

साधनायाः प्रयत्नेन तास्तु वर्द्धयितुं तथा ।

परिपुष्टा विधातुं च शक्याः सर्वेस्तु मानवैः ॥ ८ ॥

उद्बोधिता न चाप्येता इयत्यां संति विग्रहे ।

मात्रायां येन निर्वाहक्रमं शान्त्या सुखेन च ।

पर्याप्ताः पूरितुं तास्तु संति चाक्षयतां गताः ॥ ९ ॥

टीका—सत्राध्यक्ष श्री आश्वलायन जी ने उपस्थित जन-समुदाय को समझाया कि सज्जनों भगवान ने हर व्यक्ति को विपुल परिमाण में विभूतियाँ प्रदान की हैं । वे उसके स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में बीज रूप में प्रसुप्त स्थिति में पड़ी हैं । साधना के थोड़े प्रयत्न के साथ उन्हें जगाया-बढ़ाया और परिष्कृत किया जा सकता है । न जगाया जाए तो भी वे इतनी मात्रा में हैं कि निर्वाहक्रम को सुख-शांति से भरा-पूरा रखने की दृष्टि से पर्याप्त हैं, इन्हें अक्षय समझना चाहिए ॥ ६-९ ॥

व्याख्या—हर मानव तनधारी उस विराट चेतन का एक अंग है । विधाता ने मनुष्य में विभूतियों के रूप में अगणित विशेषताएँ कूट-कूट कर भर दी हैं । जानकारी के अभाव में तो बहुमूल्य वस्तु को भी निरर्थक समझकर फेंक दिया जाता है । पारस पर कपड़ा पड़ा हो तो समीपस्थ लोहे का टुकड़ा स्पर्श पाने पर भी सोने में नहीं बदलता । लगभग यही स्थिति सूक्ष्म विलक्षणताओं से संपन्न मनुष्य की है । जौहरी अपनी कीमती अलभ्य वस्तुओं को सँभालकर रखता है । कोषगारों में जमा धनराशि कड़े पहरे में रखी व स्थानांतरित की जाती है । हर कोई उनके समीप नहीं पहुँच सकता । केवल वह व्यक्ति जो हैसियत रखता है अथवा जिसकी साख है, वह विधिपूर्वक इस राशि को पाने का हकदार है ।

आत्मिक विभूतियाँ विधाता ने तीन शरीरों के रूप में काया के सूक्ष्म संस्थान में छिपाकर रखी हैं । इन्हें प्रयास-पुरुषार्थ द्वारा जगाया जा सकता है । बिना साधना अनुशासनों के ये प्रसुप्त स्थिति में पड़ी रहती हैं । सामान्य अंश जो उनका बहिरंग में दृश्यमान है वह निर्वाह आदि के लिए सामान्य जीवनचर्या के लिए पर्याप्त भंडागार की असीम सामर्थ्य का परिचय देकर उन संभावनाओं की एक झलक झाँकी दिखाते हैं, जिन्हें जगाया जा सके तो अतिमानवी क्षमताएँ अर्जित कर सकना संभव है ।

भगवान ने मनुष्य को विभूतियाँ देते समय दोनों प्रकार के व्यक्तियों का ध्यान रखा है । (१) जो विकास के इच्छुक हैं, उच्च लक्ष्यों की आकांक्षा रखते हैं । (२) वे जो सामान्य जीवन जीना चाहते हैं ।

जिस रूप में विभूतियाँ मिली हैं, उसी रूप में इनका ठीक-ठीक प्रयोग कर लिया जाए, तो मनुष्य का निर्वाह

सही, संतोषप्रद ढंग से हो सकता है । पर विशिष्ट स्तर पाना है, तो तीनों शरीरस्थ विभूतियों को जागृत, विकसित करके उनका उपयोग करना आवश्यक है । स्थान-स्थान पर आप्त वचनों के माध्यम से मनुष्य को अपने इस भंडागार को तीन शरीर पंचकोशों षट्चक्रों से विनिर्मित वैभव साम्राज्य को हस्तगत करने ऋद्धि-सिद्धि संपन्न बनने के संकेत दिए गए हैं । जो इन सूत्रों को समझते हैं, वे साधना पुरुषार्थ में प्रवृत्त होते एवं सिद्ध पुरुष महामानव की स्थिति को प्राप्त करते हैं ।

आसां दुरुपयोगं नो प्राणिनोऽन्ये तु कुर्वते ।

स्वस्थं जीवन्त्यतः सर्वे समुखं सर्वदैव च ॥ १० ॥

केवलं मानवोस्त्येष दपोन्मत्तस्तु यः सदा ।

मर्यादास्ताभिनत्याऽसंयमं स्वीकरोति च ॥ ११ ॥

प्रकृतेर्दण्डसंस्थित्या स्खलत्येव पदे-पदे ।

दुःसहं दुःखमाप्नोति समुदायोऽत्र सोऽब्रवीत् ॥ १२ ॥

टीका—अन्य प्राणी इनका अपव्यय-दुरुपयोग नहीं करते, अतएव स्वस्थ और सुखी जीवन जीते हैं । मात्र मनुष्य ही ऐसा है जो दर्प में उन्मत्त होकर मर्यादाओं को तोड़ता है असंयम बरतता है और प्रकृति की दंड व्यवस्था के अनुसार पग-पग पर ठोकरें खाता और दुःसह दुःख सहता है ॥ १०-१२ ॥

व्याख्या—रोग और दुःखों का कारण भगवान की ओर से किसी सामर्थ्य की कमी के कारण पैदा नहीं होते । वे होते हैं ईश्वरीय प्रकृति द्वारा स्थापित मर्यादाओं के उल्लंघन से । जब तक उल्लंघन बंद करके अनुशासन को अंगीकार नहीं किया जाता, सारे उपचार बेकार हो जाते हैं । यह मर्यादाएँ वह समझता तो है, पर उन्मत्त होकर उन्हें भूल जाता है, तोड़ देता है ।

जनसमुदाय उवाच

प्रज्ञं ब्रूतामिहास्माकं पुरोऽसंयमाशु तम् ।

यस्माद्धेतोर्नरोरोग - शोकाक्रांतश्च जायते ॥ १३ ॥

वयं सर्वे स्वरूपं तत्तस्य ज्ञातुं समुत्सुकाः ।

परिणामं, च येन स्याज्जीवनं सफलं तु नः ॥ १४ ॥

टीका—जनसमुदाय ने पूछा है प्रज्ञावान् उस असंयम का वर्णन कीजिए, जिसके कारण मनुष्य को रोग शोकों से आक्रांत होना पड़ता है । हम सब उसके स्वरूप और प्रतिफल को जानने के इच्छुक हैं, जिससे हमारा मनुष्य जीवन सफल हो सके ॥ १३-१४ ॥

कौण्डिन्य उवाच

चतस्रो भगवाञ्छक्तीः प्रत्येकस्मै नराय तु ।

दत्तवाञ्जन्मतो, शक्तिरिन्द्रियाणां मताऽऽदिमा ॥ १५ ॥

द्वितीया कालशक्तिश्च विचाराणां तृतीयका ।

साधनानाञ्चतुर्थी सा शक्तिः प्रोक्ता बुधैरिह ॥ १६ ॥

## २.२२ प्रज्ञोपनिषद्

शक्त्यस्तिस्त्र एतेषां शरीरे मनसि स्थितः।

चतुर्थी विपुलायां सा मात्रायां विद्यतेऽभितः ॥ १७ ॥

संपदा प्रकृतेरत्र पुरुषार्थेन स्वेन याः।

अर्जितुं शक्यते मर्त्यैर्यथेच्छं प्रकृतेः सदा ॥ १८ ॥

टीका—कौण्डिन्य बोले, हे सज्जनो भगवान ने हर मनुष्य को चार स्तर की शक्ति जन्मजात रूप से प्रदान की है, इनमें एक है, तीसरी विचारशक्ति और चौथी साधनशक्ति। तीन शक्तियाँ उसके शरीर और मन में भरी पड़ी हैं। चौथी प्रकृति संपदा के रूप में सर्वत्र विपुल परिमाण में विद्यमान है। वह अपने पुरुषार्थ द्वारा उसमें से जितनी चाहे बटोर सकता है ॥ १५-१८ ॥

व्याख्या—यहाँ चारों शक्तियों के स्वरूप और अनुशासन समझने योग्य हैं। इनमें इंद्रियशक्ति और विचारशक्ति यह हर प्राणी के साथ पैदा होती है। मनुष्य को यह अन्यो की अपेक्षा विशेष क्रम में प्राप्त हैं। संसार की सारी कुशलताएँ इन्हीं शक्तियों के प्रयोग से बनी हैं, जैसे मजदूर, पहलवान और इंद्रिय शक्ति के बिना काम नहीं कर सकते। विद्वान, वकील, विचारकों में विचार शक्ति प्रधान होती है, परंतु इंद्रिय शक्ति के बिना वे उसे व्यक्त नहीं कर सकते।

पहलवान, खिलाड़ी, चित्रकार, शिल्पी, संगीतकार यह सब अपने विचार संयोग से इंद्रियों का कलात्मक प्रयोग कर सकने में कुशल हो जाते हैं। साधना एवं अभ्यास द्वारा इन दोनों शक्तियों को विकसित तथा उचित अनुपात में संचित किया जाता है।

शिक्षक, विद्वान, वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, लेखक अपनी विचारशक्ति को इंद्रियशक्ति के सहारे प्रकट करते हैं। लिखना, ऑपरेशन करना, पढ़ना आदि क्रियाएँ इसी क्रम में आती हैं।

समय संपदा, इंद्रिय और विचार शक्तियों की तरह मनुष्य के अधिकार में नहीं होती। वह उसे घटा बढ़ा नहीं सकता। परंतु वह मिलती सबको है। प्रति दिन २४ घंटे सबको मिलते हैं। जब तक जीवन है तब तक समय भी मिलता है। पर उसका मूल्य मनुष्य अपनी इंद्रिय और विचार शक्ति के संयोग से ही पा सकता है। इस संयोग की कुशलता को पुरुषार्थ कहा जाता है। जो किसी समय की अवधि में अपनी इंद्रिय और विचार शक्ति का जितना अच्छा उपयोग कर सकता है वह उतना ही पुरुषार्थी कहा जा सकता है।

साधन शक्ति दैवी संपदा है। साधन सब भगवान ने बना रखे हैं। मनुष्य इनका रूपांतरण भर अपनी इच्छा के अनुसार कर सकता है। यही नहीं उन्हें कहीं अपनी या किसी दूसरे की अधिकार सीमा में एकत्र भी कर सकता है। परंतु उनको इच्छानुरूप स्वरूप देना या एकत्रित करना बिना पुरुषार्थ के संभव नहीं। इसीलिए ऋषि कहते हैं कि इन्हें पुरुषार्थ के

द्वारा जितना चाहे बटोरा जा सकता है। संसाधनों की विपुल संपदा प्रकृति के भांडागार में समाई हुई है। अनेकों व्यक्ति पराक्रम पुरुषार्थ से इन्हें हस्तगत कर संपन्न होते, स्वयं को पुष्ट बनाते देखे जा सकते हैं। लेकिन इस उपयोग की भी अपनी सीमा है। जब यह अनावश्यक दोहन की स्थिति में पहुँच जाता है तो उसे प्रकृति की प्रताड़नाएँ भी सहनी पड़ती हैं। यही बात प्रकारांतर से अन्य तीन मानव की सीमा रेखा में आने वाली शक्तियों इंद्रिय संपदा, समय संपदा एवं विचार संपदा पर भी लागू होती है। जब इनका महत्त्व भूलकर इनका अनावश्यक दुरुपयोग किया जाता है एवं इन्हें व्यर्थ ही अकारण नष्ट किया जाता है तो मनुष्य को तरह-तरह के त्रास भुगतने पड़ते हैं। जितनी महत्त्वपूर्ण निधियाँ ये सभी शक्तियाँ अपने आप में हैं, उतना ही महत्त्वपूर्ण उनका सार्थक सदुपयोग एवं सुनियोजन भी है। ऋषि इसी कारण मनुष्य के रोग-शोको का कारण जानने के लिए असंयम के स्वरूप का भी स्पष्टीकरण चाहते हैं ताकि हानियों को जानते हुए मनुष्य उनसे बचने के उपाय सोच सके।

जननेंद्रियस्य जिह्वायाश्चाञ्चल्यमधिगत्य तु।

नरा बुद्धिं निजामत्रोदरं तद्दूषयंत्यलम् ॥ १९ ॥

शारीरिकैर्मानसैश्च रोगैर्ग्रस्तो भवंत्यलम्।

आलस्येन प्रमादेन समयं यापयति च ॥ २० ॥

ते दरिद्रा विकासेन रहिता एव सर्वदा।

तिष्ठन्ति मानसं चैषां शरीरं मलपीडितम् ॥ २१ ॥

दोषजीर्णं जराग्रस्तमिवाशक्तं भवेत्ततः।

संपदा समयोऽप्यस्ति प्रभुदत्ता नरश्च याम् ॥ २२ ॥

श्रमे नियोजितां कृत्वा योग्यताः संपदा अपि।

सर्वा एवार्जिताः कर्तुं सक्षमो नात्र संशयः ॥ २३ ॥

श्रमपूर्वं च यावान् स कालो व्यत्येति शोभने।

पुरुषार्थे जीवितं यत्तज्जीवनं मान्यतामिह ॥ २४ ॥

टीका—जीभ और जननेंद्रिय का चटोरापन अपनाकर लोग अपना पेट तथा मस्तिष्क खराब करते हैं और शारीरिक, मानसिक रोगों से ग्रसित होते हैं। समय को आलस्य-प्रमाद में बिताने वाले दरिद्री और पिछड़ेपन से ग्रस्त बने रहते हैं। उनके शरीर और मन को जंग खा जाती है तथा वे जराग्रस्त की तरह अशक्त हो जाते हैं। समय भी ईश्वर प्रदत्त संपदा है। श्रम में उसे नियोजित रखकर हर प्रकार की योग्यताएँ तथा संपदाएँ अर्जित की जा सकती हैं। जितना समय श्रमपूर्वक श्रेष्ठ पुरुषार्थ में व्यतीत हुआ है, उतना ही जीवन जिया मानना चाहिए ॥ १९-२४ ॥

व्याख्या—इंद्रिय शक्ति के सदुपयोग के सूत्र यहाँ ऋषि ने स्पष्ट किए हैं। एक है इंद्रिय शक्ति को व्यसनों में बरबाद न होने देना। दूसरा है उपयोगी श्रम में इन्हें लगाना। जितने समय

इंद्रियों को श्रम में लगाया जाएगा, उतनी ही योग्यता और संपन्नता बढ़ेगी।

यह सत्य स्वीकार करने वाले खिलाड़ी लंबे समय तक अभ्यास का श्रम करते हैं। शिल्पी और व्यापारी लंबे समय अपने-अपने श्रम में लगाते हैं। कलाकार और संगीत साधक भी लंबी अवधि तक अपनी कला निखारने के श्रम करते हैं। इसी आधार पर संपन्नता और योग्यता पाते हैं। इसीलिए कहा है, जितना समय इस प्रकार श्रम, पुरुषार्थ में लगा उतना ही जीवन जिया समझा जाना चाहिए।

बलमांतिरिकं नूनं विचारोऽयं तथैव च।

स यस्मिन् क्वापि लक्ष्ये तु तत्तथा विनियुज्यते ॥ २५ ॥

प्रगतिस्तदनुरूपेण तत्र साफल्यमप्यलम्।

जायते परमेनं तु लोकास्ते नाशयंत्यपि ॥ २६ ॥

कल्पनासु विनिक्षिप्य विकृतासु च तं नराः।

बाधाः प्रकृतिमार्गे च भावयन्ति सुकंटकाः ॥ २७ ॥

टीका—विचार आंतरिक बल और पुरुषार्थ है, उसे जिस किसी भी लक्ष्य पर नियोजित किया जाता है उसी में तदनुरूप प्रगति होती और सफलता मिलती है। लोग अस्त-व्यस्त और विकृत कल्पनाओं में उलझाए रहकर उसे नष्ट भी करते हैं और विकृतियों में उलझाकर अपने लिए संकट भी उत्पन्न करते हैं ॥ २५-२७ ॥

व्याख्या—विचारशक्ति के संबंध में बड़ा महत्वपूर्ण और व्यावहारिक तथ्य स्पष्ट किया गया है। लक्ष्य तक पहुँचने का पुरुषार्थ इंद्रिय शक्ति के माध्यम से ही करना पड़ता है और उसी आधार पर सफलताएँ प्राप्त होती हैं। पर इंद्रिय शक्ति को पकड़कर विशेष दिशा में लगा देने का पुरुषार्थ विचार बल द्वारा ही संभव होता है। जो विचार दुर्बल हैं उस दिशा में इंद्रिय शक्ति कभी लग ही नहीं पाती और उपलब्धियाँ तो उसके बाद ही मिलती हैं।

सही दिशा में इंद्रिय शक्ति न लग पाने से उपलब्धियाँ नहीं मिलतीं। बात यहीं तक सीमित नहीं, विचार बहकते हैं तो इंद्रियाँ भी बहकती हैं और हजार तरह की परेशानियाँ मनुष्य स्वयं पैदा कर लेता है।

न्यूनता साधनानां न विद्यते कुत्रचिद्विज्ञौ।

तेऽधिगन्तुं च शक्यास्तु योग्यतां श्रमशीलताम् ॥ २८ ॥

मनोयोगमथोद्बोध्य सर्वैरेव च मानवैः।

सार्थयन्ति धनं सद्भ्यो युज्जते ये सदागमम् ॥ २९ ॥

मात्राऽल्पाऽपि च तस्यैषा प्रयच्छति महत्फलम्।

सन्निवेशं समाश्रित्य यद्यप्यतुलवैभवाः ॥ ३० ॥

नरा दुरुपयुज्जाना नाशयंतस्तु तत्स्वयम्।

यांति नाशं यथा नौका छिद्रे जाते निमज्जति ॥ ३१ ॥

टीका—साधनों की कमी नहीं। वे योग्यता, श्रमशीलता

और मनोयोग बढ़ाकर अभीष्ट मात्रा में उपार्जित किए जा सकते हैं। ईमानदारी से कमाने और सत्प्रयोजनों में ही उन्हें प्रयुक्त करने वाले धन को सार्थक बनाते हैं। उसकी थोड़ी मात्रा भी सदुपयोग के आधार पर महान प्रतिफल प्रदान करती है, जबकि विपुल संपदा वाले भी उसका दुरुपयोग करने पर उसे नष्ट करते, साथ ही स्वयं भी नष्ट होते हैं। छेद होने पर नौका पानी में डूब जाती है ॥ २८-३१ ॥

व्याख्या—यह एक स्मरणीय तथ्य है कि योग्यता, श्रम और मनोयोग के संयोग से ही साधन बनते हैं, बढ़ते हैं।

धन सार्थक बनता है नेकी से कमाने और भलाई में खर्च करने से। घातक बनता है। दुरुपयोग से भी छिद्र हीन नौका पार कर देगी, बड़ी से बड़ी छेद वाली होगी तो डुबो देगी।

साधन कमाना मनुष्य के हाथ में है। गई-गुजरी परिस्थितियों में भी अनेकों व्यक्तियों ने अध्यवसाय पुरुषार्थ के माध्यम से साधन जुटाकर स्वयं को संपन्न बनाया है। योग्यता अकेली पर्याप्त नहीं। योग्यता के साथ परिश्रम एवं काम में तन्मयता का संपुट न हो तो वह भी निरर्थक ही चली जाती है। एक बार कमा लेने पर भी उसके यदि सदुपयोग का मार्ग न बनाया गया तो वह सारा परिश्रम व्यर्थ ही जाता है, उपार्जन कर्त्ता को कष्ट पहुँचाता व अपयश का भागी बनाता है।

दुग्धे दुग्धे च चालन्यां पश्चात्तापोऽभिलभ्यते।

असंयमस्य छिद्रेषु पूर्वोक्तेषु चतुर्ध्वपि ॥ ३२ ॥

संपदाया जीवनस्य स्रवन्त्यंशास्ततो नरः।

दीनं दरिद्रमात्मानमभाग्यमसहायकम् ॥ ३३ ॥

अनुभवन्ति नरा ये तु समये सावधानताम्।

आश्रित्य संयमं चात्मशक्तिस्रोतोऽन्तर्धत्ति नो ॥ ३४ ॥

परं विवेकपूर्वं तत्सर्वं सद्भ्यो नियुज्जते।

क्वोपयोज्या संयमेन सञ्चिताः संपदा इति ॥ ३५ ॥

संबन्धे बोधयत्यस्मान् यत्तु धर्मानुशासनम्।

भद्राः शृण्वन्तु तत् सर्वं भवन्तो ध्यानपूर्वकम् ॥ ३६ ॥

टीका—चलने में दूध दुहने से मात्र पश्चात्ताप ही हाथ रहता है। इसी प्रकार असंयम के उपरोक्त चार छिद्रों में होकर जीवन संपदा के महत्वपूर्ण अंश बह जाते हैं और मनुष्य अपने आपको दीन, दरिद्र, असहाय, अभागा अनुभव करता है। बुद्धिमान वे हैं, जो समय रहते इस दिशा में सतर्कता बरतते हैं और संयमी रहकर अपने शक्ति भंडारों को नष्ट नहीं होने देते, वरन् विवेकपूर्वक उन्हें सत्प्रयोजनों में ही नियोजित किए रहते हैं। संयम द्वारा संचित संपदा का कहाँ उपयोग करना चाहिए, इस संबंध में धर्मानुशासन जो कहता है, उसे भद्रजनों आप ध्यानपूर्वक सुनें ॥ ३२-३६ ॥

## २.२४ प्रज्ञोपनिषद्

व्याख्या—शक्ति का मूल स्रोत जीवन संपदा जब तक संचित है, उसके अपव्यय के छिद्र बंद कर दिए गए हैं। जीवन को साध लिया गया है तो मनुष्य से बढ़कर सौभाग्यशाली कोई नहीं। आगे बढ़ने का मार्ग उसके लिए खुला है। भौतिक उपलब्धियों आत्मिक प्रगति का पथ उसे समृद्धि के चरम शिखर पर ले जाता है। अक्षय जीवन जीते हुए वह स्वयं तो धन्य होता ही है, संचित संपदा सामर्थ्य के सुनियोजित द्वारा विश्व वसुधा को भी लाभांविता करता है। असंयम के माध्यम से इस जीवन को क्रमशः खोखला बनाते हुए उपलब्धियों को खोते चले जाना एक ऐसी विडंबना है, जिसका वर्णन करते हुए शास्त्र वचनों में अनेकों अनुशासन मानवी गरिमा के अनुरूप बताए गए हैं। वह स्वयं को तो हानि पहुँचाता ही है, समष्टि का एक अंग होने के नाते स्रष्टा के प्रति कृतघ्नता बरतने का दोषी भी ठहरता है। ऋषि यहाँ पर मात्र संयम को ही नहीं, संचित सामर्थ्य के सुनियोजन परमार्थ हेतु उनके सदुपयोग को एक प्रकार का धर्मानुशासन बताते हुए उसे अमल में लाने के लिए जोर दे रहे हैं।

मनुष्याय प्रभुर्भुवः व्यतरच्चिन्तनं महत्।

स्वतंत्रमपि कर्तृत्वं तत्राबध्नादपि प्रभुः ॥ ३७ ॥

नरं त्वनेककर्तव्यशृंलाभिरुदारधीः।

संगच्छध्वं संवदध्वं कर्तुं स व्यवहारगम् ॥ ३८ ॥

टीका—मनुष्य को ईश्वर ने जहाँ स्वतंत्र चिंतन और कर्तृत्व की क्षमता प्रदान की है, वहाँ उसे अनेकानेक कर्तव्यों की जंजीरों में भी जकड़ा है, क्योंकि वह उदारचेता है, संगच्छध्वं संवदध्वम् को व्यावहारिक रूप देना चाहता है ॥ ३७-३८ ॥

व्याख्या—परमात्मा उदारचेता है। अर्थात् प्राणी मात्र के हित के लिए अपने अनुदान उदारतापूर्वक खरच करना चाहते हैं। परंतु साथ ही साथ संगच्छध्वं अर्थात् सबकी सहयोगात्मक प्रगति को भी व्यावहारिक स्वरूप देना चाहते हैं। मनुष्य को स्वतंत्र चिंतन और कर्तृत्व की क्षमता इसलिए दी है कि वह स्वयं भी बढ़े और सहयोगात्मक वातावरण बनाते हुए औरों को भी बढ़ाए।

सौंपे गए विशेष कर्तव्य पूरे कर सकने योग्य विशेष विभूतियाँ, विशेष क्षमताएँ मनुष्य को दी गई हैं। यदि मनुष्य कर्तव्यों से मुकरता है अथवा विशेष क्षमताओं का अन्य कोई उपयोग करता है तो ईश्वरीय अनुबंधों का उल्लंघन करता है।

उदारता मात्र देने को नहीं कहते। देने के साथ अनुशासन का जुड़ा होना यही बताता है कि परमेश्वर कितना न्यायकारी, नियम व्यवस्था को पसंद करने वाला है। यदि यह न होता तो अनुदान लुटाते रहते, अनुकंपाएँ बरसती रहतीं, कुपात्र भी उस बहती गंगा में हाथ धोते एवं कहीं भी कर्तव्यों का,

मर्यादा का स्थान नहीं होता। मनुष्य स्रष्टा को प्रिय है, उसका राजकुमार है उसी कारण दुलार व सुधार की समन्वित नीति के नाते उसे अनुदानों के साथ कर्तव्यों से भी बाँध दिया गया है। यह प्रकारांतर से मानव के हित में ही है। मनुष्य आजादी से अपने संबंध में सोच सकता एवं कर्तव्यों का निर्धारण कर सकता है पर यह छूट एक सीमा विशेष में ही है। परमात्मा एक स्व नियंत्रित, सुनियोजित व्यवस्था है जिसके चलते वह मर्यादाओं का उल्लंघन करते ही तुरंत उनके दुष्परिणामों को भी भोगता है। ये उसे सचेत करने एवं सही मार्ग पर लाने हेतु व्यावहारिक दृष्टि से जरूरी भी है।

पशवो नाभिजानन्ति कार्याकार्यस्थितिं ततः।

कार्यं स्वं कुर्वते सर्वं प्रकृतेः प्रेरणानुगम् ॥ ३९ ॥

स्वातन्त्र्यं च मनुष्याय दत्त्वाऽपेक्षितमत्र यत्।

उपयोगं विशेषायाः सुविधायाः स आचरेत् ॥ ४० ॥

कर्तव्यपालनाख्येषु कार्येष्वेव न चान्यथा।

चित्तं संतुलितं स्वस्थं वपुश्चारित्र्यमुज्ज्वलम् ॥ ४१ ॥

कर्तुं दायित्वमस्यास्ति त्रीण्येतानि प्रभोश्च मे।

न्यासं विविच्य रक्षन्ति तान्ययोग्योपयोगतः ॥ ४२ ॥

प्रयोजनेषु सत्त्वेव योजना - बद्धरूपतः।

युज्यते ते दृढन्यासा लक्ष्यं यान्ति च निश्चितम् ॥ ४३ ॥

टीका—पशुओं को कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान नहीं होता, वे मात्र प्रकृति-प्रेरणा का अनुसरण करके ही अपना काम चला लेते हैं, किंतु मनुष्य को जो स्वतंत्रता प्रदान की गई है, उसके साथ ही ईश्वर ने यह अपेक्षा भी की है कि वह इस विशेष सुविधा का उपयोग मात्र उन्हीं कार्यों में करेगा, जिन्हें कर्तव्य पालन कहते हैं। शरीर को निरोग, मन को संतुलित और चरित्र को उज्ज्वल रखना मनुष्य का उत्तरदायित्व है। इन तीनों को ईश्वर की धरोहर समझकर जो उन्हें अनुपयुक्तताओं से बचाए रहते हैं, सत्प्रयोजनों में योजनाबद्ध रूप से जुटाए रहते हैं, उनके पैर लड़खड़ाते नहीं और अभीष्ट लक्ष्य तक निश्चय पूर्वक पहुँचते हैं ॥ ३९-४३ ॥

व्याख्या—ध्यान देने योग्य सूत्र है, विशेष शक्तियों के उपयोग की स्वतंत्रता केवल निर्धारित कर्तव्यों के लिए है।

यह भी ईश्वर द्वारा सौंपे गए कर्तव्य हैं, कि (१) शरीर को स्वस्थ-निरोग रखें। (२) मन को संतुलित बनाएँ, भटकने न दें। तथा (३) अपने चरित्र को साफ सुथरा रखें, क्योंकि इनके बिना उच्चस्तरीय कर्तव्यों का पालन संभव नहीं होता।

इन उद्देश्यों में भी मनुष्य भटक जाता है शरीर को उच्चादर्शों में लगाने के लिए स्वस्थ रखना है, वह भूल जाता है। उसे सुंदर और ताकतवर इसलिए बनाना चाहता है, कि दूसरों को रिझा सके और मनमानी कर सके। इसी तरह मन को संतुलित नहीं, तुष्ट करने के फेर में पड़ जाता है। चरित्र

उज्ज्वलता की जगह झूठी वाहवाही के लिए प्रयास करने लगता है। ऋषि कहते हैं, कि भ्रमों में जो नहीं पड़ते, वे न लड़खड़ाते हैं, न भटकते हैं, लक्ष्य तक पहुँच ही जाते हैं।

विद्वथ उवाच

साधकाः ज्ञातुमिच्छन्ति प्राज्ञ संयमकारणान्।

संचितां शक्ति मत्रैते कर्तव्यस्यैव पालने ॥ ४४ ॥

कथं न साधकाः सर्वे समर्थास्तु भवन्त्यहो।

महत्ता मार्ग आर्षे का गन्तुं बाधास्तु वृत्तयः ॥ ४५ ॥

टीका—विद्वथ बोले, हे प्राज्ञ साधक समझना चाहते हैं कि समय द्वारा अपनी शक्तियाँ बचाकर कर्तव्य पालन में प्रयुक्त करने में साधक में समर्थ क्यों नहीं होते? महानता के इस ऋषि प्रणीत मार्ग पर बढ़ने में कौन-सी प्रवृत्तियाँ बाधक होती हैं ॥ ४४-४५ ॥

आश्वलायन उवाच

भद्रा! मर्त्यस्य तृष्णा सा वासनाऽहंत्वमप्यलम्।

गभीरत्वं समुद्रस्य तिरस्कुर्वन्ति वस्तुतः ॥ ४६ ॥

एतेषां पूर्तिहेतोश्चेत्समस्ताः सुविधास्तथा।

संपदा अपि विश्वस्य दत्ता स्यान्निहि तृप्तिदा ॥ ४७ ॥

दावानलस्य ज्वालेव संति त्रीण्यपि निश्चितम्।

एतेषां शान्तये न्यूनं जगतो वैभवं धनम् ॥ ४८ ॥

टीका—आश्वलायन बोले भद्रजनो मनुष्य की वासना, तृष्णा, अहंता समुद्र से भी अधिक गहरी है। इनकी पूर्ति के लिए संसार की समस्त सुविधा-संपदा झोंक दी जाए तो भी पूर्ति न हो सकेगी। यह तीनों ही दावानल जैसी अग्नि ज्वालाएँ हैं। इन्हें शांत करने के लिए संसार के समस्त वैभव का ईंधन भी कम है ॥ ४६-४८ ॥

व्याख्या—सत्राध्यक्ष ने वासना, तृष्णा और अहंता को समुद्र और अग्नि ज्वाला के समकक्ष बताया है। समुद्र तीन चौथाई है और सूखी जमीन एक चौथाई। एक चौथाई से तीन चौथाई को कभी पाटा नहीं जा सकता। इसी तरह साधनों से वासना, तृष्णा, अहंता का पेट भरा नहीं जा सकता।

ज्वाला देखने में तो छोटी दीखती है। लगता है, उसे थोड़े से सामान से ढक देना संभव है। पर वह सामान ईंधन के समान है, वह उससे शांति नहीं होती। पुरातन काल से लोग इस भ्रम में पड़ते आ रहे हैं। प्रयास बहुतों ने किया, पर सफल न हो सका।

एतेषां तुष्टये सर्वं न्यूनमेवार्जितं नृणाम्।

लोभादिकं तु पूर्णं स्यादलं नासीमितं कृतम् ॥ ४९ ॥

घृतेन दीप्यते वह्निर्मोहान्धस्तेन मानवः।

कर्तव्यं पालनं नैव चिंतयत्येष चात्मनः ॥ ५० ॥

लोभातिरिक्तं नैवायं किञ्चित्कुत्रापि पश्यति।

कर्तव्यनिश्चये बुद्धिर्नैवास्यैवं प्रवर्तते ॥ ५१ ॥

तस्य पालनहेतोश्च साहसोत्साहयोः कथम्।

भावः स उदयं गच्छेद् विनाऽऽभ्यां सिद्धिरेव का ॥ ५२ ॥

टीका—इनकी तुष्टि के लिए जो भी जुटाया जाएगा, वह कम पड़ जाएगा। लोभ, मोह और अहंकार की पूर्ति के लिए कितना ही कुछ किया जाए, वह कम ही पड़ता जाएगा। घृत डालने से आग और भड़कती है। ऐसी दशा में मोहांध व्यक्ति कर्तव्यपालन की बात सोच ही नहीं पाता। उसे लालच के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं। ऐसी दशा में कर्तव्य निर्धारण में उसकी बुद्धि काम ही नहीं देती। उसका पालन करने के लिए उत्साह और साहस जोगा ही कैसे? और बिना कर्तव्य पालन के कोई लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकेगा ॥ ४९-५२ ॥

व्याख्या—वासना से मोह, तृष्णा से लोभ और अहंता से अहंकार उसी प्रकार बढ़ते हैं, जैसे घी या ईंधन से अग्नि। जब ये दोष बढ़ जाते हैं तो मनुष्य की सोचने समझने की शक्ति क्षीण और नष्ट हो जाती है। उनका सम्मोहन मनुष्य पर छा जाता है। गीता में लिखा है सम्मोहित व्यक्ति की स्मृति भ्रमित हो जाती है। स्मृति भ्रम होते ही बुद्धि की क्षमता नष्ट हो जाती है। बुद्धि नाश के साथ मनुष्य भी नष्ट हो जाता है।

यहाँ ऋषि समझा रहे हैं कि कर्तव्य के प्रति उत्साह और साहस आगे तब कर्तव्य सधता है। पर दोषों से सम्मोहित व्यक्ति तो कर्तव्य-अकर्तव्य सोच ही नहीं पाता। उसे निभाने की स्थिति तो दूर की बात है। आदमी लक्ष्य सिद्धि तो चाहता है, पर लक्ष्य तक जाने का मार्ग कर्तव्य पालन से ही बना है। उस पर चले बिना लक्ष्य पर कैसे पहुँचे?

कर्तव्यपालनं नूनं गौरवं महतां महत्।

तेनैवाप्नोति संतोषः पुरुषो दुर्लभं परम् ॥ ५३ ॥

कर्मयोगो मतः सर्वसुलभः सर्वसम्मतः।

कल्याणकारकोऽत्यर्थं यत्रचैकमतं नृणाम् ॥ ५४ ॥

कर्तव्यपालकान् मर्त्यान् शूरान् धर्मरतांस्तथा।

भक्तान् वदन्ति कर्तव्ये सार्थक्यं जीवनस्य तु ॥ ५५ ॥

व्यवस्था प्रगतिश्चात्र विद्यन्ते सुप्रसन्नता।

दायित्वमुह्यते कर्मपालनाधारमाश्रितम् ॥ ५६ ॥

मनुष्यश्चेदृशो याति गौरवं दर्शयत्यपि।

मार्गं स्वयं मनुष्येभ्योऽसंख्येभ्यो धन्यजीवितः ॥ ५७ ॥

टीका—कर्तव्य पालन ही सबसे बड़ा गौरव है। संतोष उसी से मिलता है। कर्मयोग को सर्वसुलभ, सर्वमान्य और सर्वोपरि कल्याणकारक माना गया है। इसमें सबका एक मत है। कर्तव्य कर्म करने वाले शूरवीर धर्मनिष्ठ और ईश्वर भक्त माने जाते हैं। जीवन की सार्थकता भी कर्तव्यपालन में है। प्रसन्नता, व्यवस्था और प्रगति भी इसी में है। उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर्तव्यपालन के आधार पर ही बन पड़ता है।

## २.२६ प्रज्ञोपनिषद्

ऐसा ही स्वनामधन्य मनुष्य गौरवशाली बनता और असंख्यों का मार्गदर्शन करता है ॥ ५३-५७ ॥

व्याख्या—कर्तव्य के लिए मनुष्य के मन में उत्साह क्यों उभरे? इस मनोवैज्ञानिक समस्या का हल ऋषि जानते हैं। व्यक्ति को उत्साह आता है उपलब्धियों के लिए। ऋषि स्पष्ट करते हैं, कि जीवन की महानतम उपलब्धियाँ कर्तव्य के आधार पर ही मिलती हैं, जैसे

गौरव जिसे पाने के लिए मनुष्य सदा लालायित रहते हैं और शास्त्र भी उसे पाने योग्य कहते हैं।

संतोष जिसे जीवन की सर्वोपरि उपलब्धि कहा है। बड़ी से बड़ी चीज या पद पाकर भी यदि संतोष अनुभव न हुआ, तो वह निरर्थक सी लगती है। संतोष प्यार के दो शब्दों में भी मिला, तो उस पर राज्य न्योछावर हो जाते हैं।

शूरीर, धर्मनिष्ठ और ईश्वर भक्त कहलाना असामान्य गौरव माना जाता है। इसका भी आधार कर्तव्य ही है।

जीवन की सार्थकता तथा दूसरों का हितकर सकने का पुण्य-परमार्थ, यह भी ऐसी उपलब्धियाँ हैं, जिन्हें छोटे से छोटे व्यक्ति ये लेकर बड़े-से-बड़े महापुरुष तक महव देते हैं।

यश भी पुण्य के आधार पर मिलता है। रामचरित मानस में लिखा है पावन यश कि पुण्य बिनु होई पुण्य कुछ और नहीं, उच्चस्तरीय कर्तव्यों का फलितार्थ है।

इन सब आधारों, तथ्यों को जो ध्यान में रखते हैं, उनमें कर्तव्यों के प्रति उत्साह, साहस और उमंग रहती है, वे कर्तव्य समझने में या उसके परिपालन में कभी नहीं चूकते।

योगेषु कर्मयोगोऽतो विद्यते महतां महान्।

गीता सर्वस्वमप्येतन्मूलं संसारसंपदाम् ॥ ५८ ॥

कर्तव्यपालनं नूनं सुलभं मोददं तथा।

भूयो भूय इदं सर्वैः स्मर्तव्यं हि दिवानिशम् ॥ ५९ ॥

व्यवधानं च तस्यात्राकरणे केवलं त्विदम्।

दुष्प्रवृत्तिर्न मर्त्यास्तु क्षमन्ते रोद्धुमात्मनः ॥ ६० ॥

लोभे नियंत्रणं नैव संभवत्यपि चैव हि।

अंधस्येव स्थितिर्मोहाज्जायते च नृणामिह ॥ ६१ ॥

टीका—योगों में कर्मयोग की महत्ता महान कही गई है। यही गीता का सार व विश्व वैभव का मूल है। कर्तव्य पालन सुलभ भी है और आनंददायक भी, यह बात बार-बार दिन रात याद रखनी चाहिए, किंतु उसके न बन पड़ने में एकमात्र व्यवधान यही है कि लोग अपनी दुष्प्रवृत्तियों पर अंकुश नहीं रख पाते। लालच पर नियंत्रण करते नहीं बन पड़ता। मोह से अंधे जैसी स्थिति बन जाती है ॥ ५८-६१ ॥

व्याख्या—जो कर्तव्य मानव होने के नाते सौंपा गया है, उसे पूरा करना ही मानव का सबसे बड़ा धर्म है। योगत्रयी

की जीवन साधना में कर्मयोग को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। व्यावहारिक अध्यात्म की इस साधना से गीताकार के अनुसार व्यक्ति जीवन्मुक्ति की दिशा में सहज ही बढ़ता रह सकता है। मोक्ष निर्वाण संबंधी सारा ब्रह्मज्ञान अपने स्थान पर है एवं कर्मयोग की जीवन साधना अपनी जगह। जो इसकी उपेक्षा करता है वह इहलोक तो खोता ही है, परलोक को भी खो देता है। गीताकार कहते हैं कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मनुष्य को कर्म साधना का उपदेश देते हुए कहा गया है कि वह फल के परिणाम की आकांक्षा किए बिना उनमें लिप्त हुए बिना सतत् कर्म करता रहे। यही सच्चा अध्यात्म है।

कर्मयोग सुलभ होते हुए भी उसमें निरत न हो पाने का एक ही कारण है चिंतन में सतत समाने वाली, व्यामोह पैदा करने वाली दुष्प्रवृत्तियों को पनपते रहना, उन पर नियंत्रण न होना एवं विवेक को खोकर अपना लक्ष्य भूल जाना। यह मानव के साथ जुड़ी एक ऐसी विडंबना है जो उसे आत्मिक प्रगति के मार्ग पर चलने में सतत रोड़ अटकाती रहती है।

अहंकारी भवत्येवोन्मादीवावेशतां गतः।

सत्सु चैतेषु दोषेषु समीहा मानवस्य तु ॥ ६२ ॥

आकांक्षाः केवलं ताश्च सदा पूरयितुं द्रुतम्।

उच्छलन्ति स्वकर्तव्यपालने स्युस्तथाऽक्षमाः ॥ ६३ ॥

स्पृहास्तं तु नयन्त्येव यत्र कुत्रापि वै बलात्।

स्पृहावात्यागृहीतश्च शान्तिं विंदति नो मनाक् ॥ ६४ ॥

त्यागोऽप्यपेक्ष्यते नूनं कर्तव्यस्यात्रपालने।

श्रमश्चापि तथा सार्वभौमं पौरुषमप्यलम् ॥ ६५ ॥

इमा सर्वाविभूतीश्च लिप्सा सा पूर्वमेव हि।

उदरस्थाः करोत्येव लुब्धोऽकिञ्चित्करो भवेत् ॥ ६६ ॥

टीका—अहंकारी उन्मादी जैसा आवेशग्रस्त होता है। इन दोष-दुर्गुणों के लिए मनुष्य की इच्छा मात्र महत्वाकांक्षाएँ पूर्ण करने के लिए ही उभरती रहती है। वह कर्तव्यपालन में समर्थ हो ही नहीं पाता। लिप्साएँ उसे कहीं से कहीं, घसीट ले जाती हैं। लिप्सापूर्ति के झंझावात में पड़ा हुआ व्यक्ति क्षण भर भी शांति प्राप्त नहीं कर पाता है। कर्तव्यपालन में त्याग भी करना पड़ता है और श्रम पुरुषार्थ भी। इन सब विभूतियों को लिप्सा अपने पेट में पहले से ही उदरस्थ कर लेती है। ऐसी दशा में लोलुपों से ही करते-धरते नहीं बन पड़ता ॥ ६२-६६ ॥

व्याख्या—कर्तव्य के लिए आदर्शनिष्ठ उत्साह उमड़ना चाहिए। पर अहं के कारण महत्वाकांक्षाओं का उन्माद उमड़ता है तो फिर कर्तव्य किस के सहारे हो?

कर्तव्य में त्याग, श्रम, पुरुषार्थ लगाना पड़ता है पर लूट, खसोट, मौज, मजा की लिप्सा के रहते वे कहाँ पैदा हों, कहाँ

रुके ?

शांत चित्त से कर्तव्य निर्धारण और विवेकपूर्वक प्रगति के चरण बनाए जाते हैं। महत्वाकांक्षा में लिप्त व्यक्ति को क्षण भर भी शांत चित्त से सोचने का अवसर ही नहीं मिलता।

ऐसी स्थिति में कुछ कर न पाना ही नियति बन जाती है। जो सोचने, करने की स्थिति बनाए रह पाते हैं वे विपरीत स्थिति में भी करने योग्य कर ही लेते हैं।

क्रिया विचारणा भिन्ने कर्तव्यस्यात्र पूर्तये।

मनोयोगः श्रमोऽथापि संयमश्चाप्यपेक्षितः ॥ ६७ ॥

योक्तुं तेषां च प्राप्त्यर्थं नरः संयमशीलताम्।

भजेदेव स्पृहा चापि नियम्यैव च वै नरैः ॥ ६८ ॥

इयन्नैव च ये कर्तुं पारयन्ति नरा भवेत्।

दिवास्वप्नायितं तेषां कर्मयोगः सदैव तु ॥ ६९ ॥

प्रतिकूलस्थितौ चापि कर्मयोगी न त्रस्यति।

युद्धयमानस्तु ताभिः स बुद्ध्या तरति चापदः ॥ ७० ॥

टीका—सोचना और करना भिन्न है। कर्तव्यपालन के लिए जिस मनोयोग और श्रम संयम का लगाया जाना आवश्यक है, उसे बचाने के लिए मनुष्य को संयमशील बनना पड़ता है। लिप्साओं पर अंकुश लगाना पड़ता है। जो इतना नहीं कर पाते, उनके लिए कर्मयोग एक दिवास्वप्न मात्र बनकर रह जाता है। प्रतिकूल स्थिति आ जाने पर भी कर्मयोगी त्रस्त नहीं होता है, उन विपत्तियों पर विजय प्राप्त कर लेता है ॥ ६७-७० ॥

व्याख्या—सही सोचना प्रथम चरण है। परंतु सोचने के साथ श्रम, पुरुषार्थ, अभ्यास का क्रम न बिठाया जाए तो कर्तव्य नहीं सधता।

लिप्सा पर अंकुश लगाना आना चाहिए। आकांक्षा पूर्ति नहीं उनके शोधन का, अध्यात्म और ईश्वरनिष्ठ जीवन का अधिक महत्त्व है, जो यह नहीं कर पाते वे प्रगति के स्वप्न शेखचिल्ली की तरह देख सकते हैं। या तो कर्तव्य पथ पर बढ़ ही नहीं पाते और बढ़ते हैं तो जरा से व्यवधानों से अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। कर्मयोगी व्यवधानों को अपने श्रम पुरुषार्थ के बल पर पार करते हैं और धन्य कहलाते हैं।

सुरसा वदनात्सोऽयं मारुतिर्निर्गतो बहिः।

मशकं रूपमाश्रित्य मनुजन्माऽपि चेदृशम् ॥ ७१ ॥

परित्यज्य निराशां वै दुराशां दूरयन्नपि।

कर्मयोगी भवेदेवं जीवश्चेश्वरतां व्रजेत् ॥ ७२ ॥

योगाभ्यासेषु सर्वेषु तपः संयमजं मतम्।

अनिवार्यमहंकारो लोभो मोहस्तथैव च ॥ ७३ ॥

अंकुशास्त्रय एवैते दंभा उन्नतिबाधकाः।

स्वल्पसंतोषवृत्त्या च वर्तितव्यं सुयोगिभिः ॥ ७४ ॥

उत्साहः स्वस्तथाऽऽकांक्षा आदर्शैः योक्तुमुत्तमाः।

विनाऽऽदर्शं सदृच्छां च ज्ञानं पापायतेऽपि तु ॥ ७५ ॥

टीका—सुरसा के मुख से हनुमान मच्छर बनकर बाहर निकल आए। कुत्साओं को नियंत्रित करके ही मनुष्य कर्मयोगी बन सकता है। हर योगाभ्यास में संयम की तपश्चर्या अनिवार्य रूप से आवश्यक बताई गई है। कर्मयोगी को लोभ, मोह और अहंकार के तीन शत्रुओं का दमन करना चाहिए। स्वल्प संतोषी बनकर रहना चाहिए और उमंगों-आकांक्षाओं को आदर्शों के साथ जोड़ना चाहिए। बिना सदृच्छाओं के, बिना आदर्श के ज्ञान भी पाप पूर्ण हो जाता है ॥ ७१-७५ ॥

व्याख्या—हनुमान अपने लक्ष्य तक पहुँचना चाहते थे, सुरसा से मुक्ति पाना आवश्यक था। लिप्साएँ लौकिक पुरुषार्थ के अनुपात में बढ़ती ही जाती हैं। लिप्साओं के सामने पुरुषार्थी नहीं स्वल्प संतोषी बनकर ही पार जाना उचित है। हनुमान जी ने यही किया। प्रत्येक प्रगति के इच्छुक साधक के लिए भी यही अभीष्ट है। योग का लक्ष्य है जीव ऊपर उठकर ईश्वरत्व तक पहुँचे, इसके लिए नीचे खींचने वाली कुत्साओं से बचना है। यह कार्य संयम से ही संभव है। इसीलिए हर प्रकार के योग में संयम का अनिवार्य स्थान है।

आदर्श पहचानना ही पर्याप्त नहीं। अपनी आकांक्षाएँ और उमंगें उनके साथ जोड़नी होती हैं। मात्र जानकारी है पर आकांक्षा नहीं तो जानते हुए न बढ़ना और भी बड़ा पाप बन जाता है।

तृष्णाः स्वाश्च वशीकुर्याद् यावदेव नरः स्वयम्।

तावदेव स्वकर्तव्यपालनं संभवेद् भृशम् ॥ ७६ ॥

संयमाधारमाश्रित्य सञ्चितैर्विभवैर्नरः।

साधनानि स्वकर्तव्यपालनस्यार्जितुं क्षमः ॥ ७७ ॥

ब्राह्मणविप्रवृत्तेश्चाभ्यस्ता वै साधवो मताः।

अस्यार्थश्चायमेवास्ति दुष्प्रवृत्तिरिमास्तथा ॥ ७८ ॥

महत्त्वपूर्णाकांक्षाश्च नियम्यैव च संभवेत्।

परोपकारो विप्राणां यश्च नैसर्गिको गुणः ॥ ७९ ॥

टीका—जो मनुष्य अपनी तृष्णाओं पर जितना अंकुश लगा सकेगा, उसके लिए उतनी ही तत्परता के साथ कर्तव्य पालन संभव हो सकेगा। संयम के आधार पर संभव हुई बचत से ही कर्तव्यपालन के आवश्यक साधनों को लगाया जा सकना संभव होता है। ब्राह्मण तथा ब्रह्मणवृत्ति के व्यक्ति ही साधु बन सकते हैं। इसका अर्थ है—महत्वाकांक्षाओं त्रिविध दुष्प्रवृत्तियों का दमन करने के उपरांत ही परमार्थ-परायण होसकना संभव है, जो ब्राह्मणों का स्वाभाविक गुण देखा जाता है ॥ ७६-७९ ॥

व्याख्या—यहाँ ऋषि कहते हैं कि ब्राह्मण वह है जिसमें संयम की सहज वृत्ति है। जो आवश्यकताएँ बढ़ाने में नहीं, दुष्प्रवृत्तियों के दमन में गौरव समझता है। साधु का अर्थ है,

## २.२८ प्रज्ञोपनिषद्

सहज परमार्थ परायण । जिसमें ब्राह्मणवृत्ति नहीं, उससे साधु के कर्तव्य-उत्तरदायित्व नहीं सँभाल सकेंगे ।

धर्मस्याऽपरयुगमस्य कर्तव्यसंयमाख्ययोः ।  
द्वयोरन्योऽन्यसंबंधे ज्ञाते ते तुतुषुः स्थिताः ॥ ८० ॥  
स्पृहा - नियमनान्नूनं विना कर्तव्यपालनम् ।  
संभवेनैव तथ्यं च जना जानन्ति ये त्विदम् ॥ ८१ ॥  
समर्थास्ते नरा एव धर्तुं धर्मस्य पावनम् ।  
पादं तृतीयं येनेमे देवत्वं प्राप्नुयुर्धुवम् ॥ ८२ ॥  
प्रतिपादनमेतच्च ज्ञानगोष्ठ्यामभूमतम् ।  
समेषां कृतकृत्यांश्च मेनिरे स्वान् समे ततः ॥ ८३ ॥  
नियते समये सोऽयं समारोहो विसर्जितः ।  
भ्रांतेर्वात्या विधूता च यया लोकोविखंडितः ॥ ८४ ॥

टीका—धर्म के दूसरे युगम संयम और कर्तव्य का अन्योन्याश्रय संबंध समझने पर सभी उपस्थित जनों को बहुत संतोष हुआ । लिप्सा-नियमन के बिना कर्तव्य-धर्म का पालन नहीं बन सकता, इस तथ्य को जो लोग समझते हैं, वे ही धर्म के तीसरे चरण की अवधारणा करने में समर्थ होते हैं, जिससे सभी देवत्व को प्राप्त हो सकते हैं । ज्ञानगोष्ठी में आज का प्रतिपादन सभी को बहुत भाया और उन्होंने अपने को इस प्रतिपादन से कृतकृत्य माना । नियम समय पर समारोह विधिवत विसर्जित हुआ । भ्रांति का वातचक्र ध्वस्त हो गया, जिसने मनुष्यों को खंड-खंड कर अलग-अलग फेंक दिया था ॥ ८०-८४ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः

श्री आश्वलायन विद्वथ ऋषिसंवादे संयमशीलता-कर्तव्यपरायणता इति प्रकरणो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥